

१०. षट्खंडागमका परिचय

पुष्पन्दत और भूतबलिद्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था ? स्वयं सूत्रोंमें तो ग्रंथका कोई नाम हमारे देखनेमें नहीं आया, किंतु धवलाकारने ग्रंथकी उत्थानिकामें ग्रंथके मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह ज्ञातव्य बातोंका ग्रंथ नाम परिचय कराया है। वहां इसे 'खंडसिद्धान्त' कहा है और इसके खंडोंकी संख्या छह बतलाई है^१। इस प्रकार धवलाकारने इस ग्रंथका नाम 'षट्खंड सिद्धान्त' प्रगट किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धान्त और आगम एकार्थवाची हैं^२। धवलाकारके पश्चात् इन ग्रंथोंकी प्रसिद्धि आगम परमागम व षट्खंडागम नामसे ही विशेषतः हुई। अपभ्रंश महापुराणके कर्ता पुष्पदन्तने धवल और जयधवलको 'आगम सिद्धान्त', गोम्मटसारके टीकाकारने परमागम^३ तथा श्रुतावतारके कर्ता इन्द्रनन्दिने षट्खंडागम^४ कहा है, और इन ग्रंथोंको आगम कहनेकी बड़ी भारी सार्थकता भी है। सिद्धान्त और आगम यद्यपि साधारणतः पर्यायवाची गिने जाते हैं, किंतु निरुक्ति और सूक्ष्मार्थकी दृष्टिसे उनमें भेद है। कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किंतु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है जो आप्तवाक्य है और पूर्व-परम्परासे आया है^५। इस प्रकार सभी आगमको सिद्धान्त कह सकते हैं किंतु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते। सिद्धान्त सामान्य संज्ञा है और आगम विशेष।

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे आगम सिद्धान्त ही है। धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलिको वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हें उनसे पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीरस्वामीतक पहुँचती है। पुष्पदन्त और भूतबलिने भी उन्हीं आगम सिद्धान्तोंको पुस्तकारूढ किया और टीकाकारने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और

१ तदो एयं खंडसिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुष्कयंताइरिया वि क्तारो उच्चति । (पृ. ७१)
इदं पुण जीवट्ठाणं खंडसिद्धंतं पडुच्च पुब्बाणुपुब्बीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पडमखंडं जीवट्ठाणमिदि ।

(पृ. ७४)

२ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो । (पृ. २०.) आगमः सिद्धान्तः । (पृ. २९.)
कृतान्तागम-सिद्धान्त-ग्रंथाः शास्त्रमतः परम् ॥ (धनंजय-नाममाला ४)

३ ण उ बुज्झिउ आयसु सद्धामु । सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥ (महापु. १, ९, ८.)

४ एवं विंशतिसंख्या गुणस्थानादयः प्ररूपणाः भगवदहर्दग्गणधरशिष्य-प्रशिष्यादिगुरुर्पवर्गितया परिपाटया अनुक्रमेण भणिताः परमागमे पूर्वाचार्यैः प्रतिपादिताः (गो. जी. टी. २१.) परमागमे निगोद-जीवानां द्विविध्यस्य सुप्रसिद्धत्वात् । (गो. जी. टी. ४४२.)

५ षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥ १३७ ॥ षट्खंडागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः ॥ १३८ ॥
षट्खंडागमपुस्तकमहो मया चिंतितं कार्यम् ॥ १४६ ॥ एवं षट्खंडागमसूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना ॥ १४९ ॥
षट्खंडागमगत-खंड-पंचकस्य पुनः ॥ १६८ ॥ इन्द्र. श्रुतावतार.

६ राक्ष-सिद्ध-कृतेभ्योऽन्त आप्तोक्तिः समयागमौ (हैम. २, १५६.) पूर्वापरविरुद्धादेव्यंपेतो दोषसंहतेः । द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः । (धवला अ. ७१६)

पूर्व आचार्योंके उपदेशोंके अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीकामें स्थान स्थानपर प्रकट है^१। आगमकी यह भी विशेषता है कि उसमें हेतुवाद नहीं चलता^२, क्योंकि, आगम अनुमान आदिकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु स्वयं प्रत्यक्षके बराबरका प्रमाण माना जाता है^३।

पुष्पदन्त व भूतबलिकी रचना तथा उस पर वीरसेनकी टीका इसी पूर्व परम्पराकी मर्यादाको लिये हुए है इसीलिये इन्द्रनन्दिने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकताको मान देकर इन्द्रनन्दिद्वारा निर्दिष्ट नाम षट्खंडागम स्वीकार किया है।

षट्खंडोंमें प्रथम खंडका नाम 'जीवट्ठाण' है। उसके अन्तर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वार, तथा १ प्रकृति, समुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, जीवट्ठाण ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएं हैं। इस खंडका परिमाण धवलाकारने अठारह हजार पद कहा है (पृ. ६०)। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाओंमें गुणस्थान और मार्गणाओंका आश्रय लेकर यहां विस्तारसे वर्णन किया गया है।

दूसरा खंड खुद्दाबंध (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं, १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्श-नानुगम, ८ नाना-जीव-काल, ९ नाना-जीव-अन्तर, १० भागाभागाणुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। इस खंडमें इन ग्यारह प्ररूपणाओंद्वारा कर्मबन्ध करनेवाले जीवका कर्मबन्धके भेदोंसहित वर्णन किया गया है।

यह खंड अ. प्रतिके ४७५ पत्रसे प्रारम्भ होकर ५७६ पत्रपर समाप्त हुआ है।

तीसरे खंडका नाम बंधस्वामित्वविचय है। कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती है, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां कितनी हैं और परोदय बंधरूप कितनी हैं, इत्यादि कर्मबंधसंबन्धी विषयोंका बंधक जीवकी अपेक्षासे इस खंडमें वर्णन है।

१ 'भूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा तदवगतेः' (१९७) ' किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् ' (२०६) ' जिणा ण अण्णहावाइणो ' (२२१) ' आइरियपरंपराए णिरंतरमागयाणं आइरिएहि पोत्थेसु चढावियाणं असुत्तणविरोहादो ' (२२१) ' प्रतिपादकार्षोपलंभात् ' (२२९) ' आर्षात्तदवगतेः ' (२५८) ' प्रवाहरूपेणापोरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तारः ' (३४९)

२ ' किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् ' (२०६)

३ सुदकेवलं च णाणं दोण्णि वि सरिमाणि हीति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पचक्खं केवलं णाणं ॥

यह खंड अ. प्रतिके ५७६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ६६७ वें पत्र पर समाप्त हुआ है। चौथे खंडका नाम वेदना है। इसके आदिमें पुनः मंगलाचरण किया गया है। इसी खंडके अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोगद्वार हैं। किंतु वेदनाके कथनकी प्रधानता और अधिक विस्तारके कारण इस खंडका नाम वेदना रक्खा गया है^१।

४ वेदना

कृतिमें औदारिकादि पांच शरीरोंकी संघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम और अप्रथम समयमें स्थित जीवोंके कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप संख्याओंका वर्णन है। १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रंथ, ६ कारण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार हैं, जिनमेंसे प्रकृतमें गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है।

वेदनामें १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय, ९ स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३ सन्निकर्ष, १४ परिमाण, १५ भागा-भागानुगम और १६ अल्पबहुत्वानुगम, इन सोलह अधिकारोंके द्वारा वेदनाका वर्णन है।

इस खंडका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया गया है। यह समस्त खंड अ. प्रतिके ६६७ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ११०६ वें पत्रपर समाप्त हुआ है, जहां कहा गया है—

एवं वेयण-अप्पाबहुगण्णिओगद्वारे समत्ते वेयणाखंडं समत्ता (खंडो समत्तो)।

पांचवें खंडका नाम वर्गणा है। इसी खंडमें बंधनीयके अन्तर्गत वर्गणा अधिकारके अतिरिक्त स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनका पहला भेद बंध, इन अनुयोगद्वारोंका भी अन्तर्भाव कर लिया गया है।

५ वर्गणा

स्पर्शमें निक्षेप, नय आदि सोलह अधिकारोंद्वारा तेरह प्रकारके स्पर्शोंका वर्णन करके प्रकृतमें कर्म-स्पर्शसे प्रयोजन बतलाया है।

कर्ममें पूर्वोक्त सोलह अधिकारोंद्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग, ५ समवधान, ६ अधः, ७ ईर्यापथ, ८ तप, ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकारके कर्मोंका वर्णन है।

प्रकृतिमें शील और स्वभावको प्रकृतिके पर्यायवाची बताकर उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार भेदोंमेंसे कर्म-द्रव्य-प्रकृतिका पूर्वोक्त १६ अधिकारोंद्वारा विस्तारसे वर्णन किया गया है।

इस खंडका प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें २३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन और उनमेंसे कर्मबन्धके योग्य वर्गणाओंका विस्तारसे कथन किया है।

यह खंड अ. प्रतिके ११०६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर १३३२ वें पत्रपर समाप्त हुआ है और वहां कहा है—

एवं विस्ससोवचय-परूवणाए समत्ताए बाहिरिय-वग्गणा समत्ता होदि।

^१ कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्वाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसि खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चैव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसि पहाणत्ताभावादो । तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो ।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि भूतबलिने पांच खंडोंके पुष्पदन्त विरचित ६ महाबंध सूत्रोंसहित छह हजार सूत्र रचनेके पश्चात् महाबंध नामके छठवें खंडकी तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की ।

धवलामें जहां वर्गणाखंड समाप्त हुआ है वहां सूचना की गई है कि—

‘जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्टिदिबंधो अनुभागबंधो पदेसबंधो चेदि । एदेसि चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलि-भडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं । तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि ’ । (धवला. क. १२५९-१२६०)

अर्थात् बंधविधान चार प्रकारका है— प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध । इन चारों प्रकारके बंधोंका विधान भूतबलि भट्टारकने महाबंधमें सविस्तररूपसे लिखा है, इस कारण हमने (वीरसेनाचार्यने) उसे यहां नहीं लिखा । इस प्रकारसे समस्त महाबंधके यहां प्ररूपण हो जानेपर बंधविधान समाप्त होता है ।

ऐसा ही एक उल्लेख जयधवलामें भी पाया जाता है जहां कहा गया है कि, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधका वर्णन विस्तारसे महाबंधमें प्ररूपित है और उसे वहांसे देख लेना चाहिये, क्योंकि, जो बात प्रकाशित हो चुकी है उसे पुनः प्रकाशित करनेमें कोई फल नहीं । यथा—

सो पुण पयडिट्टिदिअणुभागपदेसबंधो बहुसो परूविदो (चूर्णिसूत्र) । सो उण गाहाए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-ट्टिदि-अणुभाग-पदेस-विसओ बंधो बहुसो ग्रंथंतरेसु परूविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठव्वो, ण एत्थ पुणे परूविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलंभादो । तदो महाबंधाणुसारेणेत्थ पयडि-ट्टिदि-अणुभाग-पदेसबंधेसु विहासियसमत्तेसु तदो बंधो समत्तो होई । जयध. अ. ५४८

इससे इन्द्रनन्दिके कथन की पुष्टि होती है कि छठवां खंड स्वयं भूतबलि आचार्यद्वारा रचित सविस्तर पुस्तकारूढ है ।

किंतु इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें आगे चलकर कहा है कि वीरसेनाचार्यने एलाचार्यसे सिद्धान्त सीखनेके अनन्तर निबन्धनादि अठारह अधिकारोंद्वारा सत्कर्म नामक छठवें खंडका संक्षेपसे विधान किया और इस प्रकार छहों खंडोंकी बहत्तर हजार ग्रंथप्रमाण धवला टीका रची गई । (देखो ऊपर पृ. ३८)

धवलामें वर्गणाखंडकी समाप्ति तथा उपर्युक्त भूतबलिकृत महाबंधकी सूचनाके पश्चात् निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम सातासात, दीर्घ-

१ तेन ततः परिपठितां भूतबलिः सत्प्ररूपणां श्रुत्वा । षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥१३७
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः । द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खंडपंचकल्यान्वक् ॥१३८
सूत्राणि षट्सहस्रग्रंथान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि । प्रविरच्य महाबंधाद्द्वयं ततः षष्ठकं खंडम् ॥१३९
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रंथं व्यरचयदसौ महात्मा । इन्द्र, श्रुतावतार.

ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निघत्त-अनिघत्त निकाचित-अनिकाचित कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व, इन अठारह अनुयोगद्वारोंका कथन किया गया है और इस समस्त भागको चूलिका कहा है। यथा—

एतो उवरिम-गंधो चूलिया णाम ।

इन्द्रनन्दिके उपर्युक्त कथनानुसार यही चूलिका संक्षेपसे छठवां खंड ठहरता है, और इसका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धवला षट्खंडागम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है। विबुध श्रीधरके मतानुसार वीरसेनकृत ७२ हजार प्रमाण समस्त धवला टीकाका ही नाम सत्कर्म है। यथा—

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपार्श्वे सिन्द्धातद्वयं वीरसेननामा मुनिः पठित्वाऽपराण्यपि अष्टादशाधिकाराणि प्राप्य पंच-खंडे षट्-खंडे संकल्प्य संस्कृतप्राकृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वासप्ततिसहस्रप्रमितां धवलनामांकितां लिखाप्य विशंतिसहस्रकर्मप्राभृतं विचार्य वीरसेनो मुनिः स्वर्गं यास्यति । (विबुध श्रीधर. श्रुतावतार मा. ग्रं. मा. २१, पृ. ३१८)

दुर्भाग्यतः महाबंध (महाधवल) हमें उपलब्ध नहीं है, इस कारण महाबंध और सत्कर्म नामोंकी इस उलझनको सुलझाना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु मूडविद्रीमें सुरक्षित महाधवलका जो थोडासा परिचय उपलब्ध हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ भी सत्कर्म नामसे है और उसपर एक पंचिकारूप विवरण है जिसके आदिमें ही कहा गया है—

‘वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं । चोव्वीसमणियोगद्वारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्वाराणि वेदणाखंडमिह पुणो फास (कम्म-पयडि-बंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्वारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडमिह, पुणो बंध-विधानणामाणियोगो’ खुद्दाबंधमिह सप्पवंचेण परुविदाणि । तो वि तस्सइग्गभीरत्तादो अत्थ-विसम पदानमत्थे थोरुद्धयेण (?) पंचियसरूवेण भणिस्सामो । (वीरवाणी सिंभ रिपोर्ट, १९३५)

इसका भावार्थ यह है कि महाकर्मप्रकृति पाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे कृति और वेदनाका वेदना खंडमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधनके बंध और बंधनीयका वर्गणाखंडमें और बंधविधान, नामक अणुयोगद्वारका खुद्दाबंधमें विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है। इनसे शेष अठारह अनुयोगद्वार सब सत्कर्ममें प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अतिगंभीर होनेसे उसके विषय पदोंका अर्थ संक्षेपमें पंचिकारूपसे यहां कहा जाता है।

इससे जान पडा कि महाधवलका मूलग्रंथ संतकम्म (सत्कर्म) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे वेदना और वर्गणाखंडमें वर्णित प्रथम छहको छोडकर शेष निबंधनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण है।

१ यहां पाठमें कुछ त्रुटि जान पडती है, क्योंकि, धवलाके अनुसार खुद्दाबंधसे बंधकका वर्णन है और बंधविधान महाबंधका विषय है।

महाधवल या सत्कर्मकी उक्त पंचिका कबकी और किसकी है ? संभवतः यह वही पंचिका है जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित कहा है । (देखो ऊपर पृ. ४९)

किन्तु जयधवलामें एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकारमें कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं और उनमें उदय नामक अर्थाधिकार प्रकृति सहित स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य उदयके प्ररूपणमें व्यापार करता है । यथा—

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्वारेसु पडिबद्धेसु उदओ णाम अत्थाहियारो द्विदि-अणुभाग-पदेसाणं पयडिसमणियाणमुक्कस्साणुक्कस्स-जहण्णाजहण्णुदयपरूवणे य वावारो । जयध. अ. ५१२.

इससे जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही समष्टिरूपसे सत्कर्म महाधिकार नाम है और चूँकि ये चौबीस अधिकार तीसरे अर्थात् बंधस्वामित्वविचयके पश्चात् क्रमसे वर्णन किये गये हैं, अतः उस समस्त विभाग अर्थात् अन्तिम तीन खंडोंका नाम संतकम्म या सत्कर्मपाहुड महाधिकार है ।

किन्तु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, इन्हीं चौबीस अनुयोगद्वारोंसे जीवट्टाणके थोड़ेसे भागको छोड़कर शेष समस्त षट्खंडागमकी उत्पत्ति हुई है । अतः जयधवलाके उल्लेखपरसे इस समस्त ग्रंथका नाम भी सत्कर्म महाधिकार सिद्ध होता है । इस अनुमानकी पुष्टि प्रस्तुत ग्रंथके दो उल्लेखोंसे अच्छी तरह हो जाती है । पृ. २१७ पर कषायपाहुड और सत्कर्मपाहुडके उपदेशमें मतभेदका उल्लेख किया गया है । यथा—

‘एसो संतकम्म—पाहुड—उवएसो । कसायपाहुड—उवएसो पुण.....’

आगे चलकर पृष्ठ २२१ पर शंका की गई कि इनमेंसे एक वचन सूत्र और दूसरा असूत्र होना चाहिये और यह संभव भी है, क्योंकि, ये जिनेन्द्र वचन नहीं हैं किन्तु आचार्योंके वचन हैं । इसका समाधान किया गया है कि नहीं, सत्कर्म और कषायपाहुड दोनों ही सूत्र हैं, क्योंकि, उनमें तीर्थंकरद्वारा कथित, गणधरद्वारा रचित तथा आचार्यपरंपरासे आगत अर्थका ही ग्रंथन किया गया है । यथा—

‘आइरियकहियाणं संतकम्म—कसाय—पाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण..... (पृ. २२१)

यहां स्पष्टतः कषाय पाहुड के साथ सत्कर्मपाहुडसे प्रस्तुत समस्त षट्खंडागमसे ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है, क्योंकि, पूर्वोंकी रचनामें उक्त चौबीस अनुयोग-

द्वारोंका नाम महाकर्मप्रकृतिपाहुड है। उसीका धरसेन गुरुने पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा उद्धार कराया है, जैसा कि जीवट्टाणके अन्त व खुद्दाबंधके आदिकी एक गाथासे प्रकट होता है—

जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो ।

बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फुयंतस्स ॥ (धवला अ. ४७५)

महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म संज्ञाएं एक ही अर्थकी द्योतक हैं। अतः सिद्ध होता है कि इस समस्त षट्खंडागमका नाम सत्कर्मप्राभूत है। और चूँकि इसका बहुभाग धवला टीकामें ग्रथित है, अतः समस्त धवलाको भी सत्कर्मप्राभूत कहना अनुचित नहीं। उसी प्रकार महाबंध या निबंधनादि अठारह अधिकार भी इसीके एक खंड होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते हैं। और जिस प्रकार खंड विभागकी दृष्टिसे कृतिका वेदनाखंडमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बंधनके प्रथम भेद बंधका वर्गणाखंडमें अन्तर्भाव कर लिया गया है, उसी प्रकार निबन्धनादि अठारह अधिकारोंका महाबंध नामक खंडमें अंतर्भाव अनुमान किया जा सकता है जिससे महाधवलान्तर्गत उक्त पंचिकाके कथनकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, सत्कर्मका एक विभाग होनेसे वह भी सत्कर्म कहा जा सकता है।

सत्कर्मप्राभूत षट्खंडागम तथा उसकी टीका धवलाकी इस रचनाको देखनेसे ज्ञात होता है कि उसके मुख्यतः दो विभाग हैं। प्रथम विभागके अन्तर्गत जीवट्टाण, खुद्दाबंध व बंध-स्वामित्वविचय हैं। इनका मंगलाचरण, श्रुतावतार आदि एक ही वार जीवट्टाणके आदिमें किया गया है और उन सबका विषय भी जीव या बंधककी मुख्यतासे है। जीवट्टाणमें गुणस्थान और मार्गणाओंकी अपेक्षा सत्, संख्या आदि रूपसे जीवतत्वका विचार किया गया है। खुद्दाबंधमें सामान्यकी अपेक्षा बंधक, और बंधस्वामित्वविचयमें विशेषकी अपेक्षा बंधकका विवरण है।

दूसरे विभागके आदिमें पुनः मंगलाचरण व श्रुतावतार दिया गया है, और उसमें यथार्थतः कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारोंका क्रमशः वर्णन किया गया है और इस समस्त विभागमें प्रधानतासे कर्मोंकी समस्त दशाओंका विवरण होनेसे उसकी विशेष संज्ञा सत्कर्मप्राभूत है। इन चौबीसोंमेंसे द्वितीय अधिकार वेदनाका विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नामसे चौथा खंड खडा हो गया। बंधनके तीसरे भेद बंधनीयमें वर्गणाओंका विस्तारसे वर्णन आया और उसके महत्वके कारण वर्गणा नामका पांचवां खंड हो गया। इसी बंधनके चौथे भेद बंधविधानके खूब विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसका महाबंध नामक छठवां खंड बन गया और शेष अठारह अधिकार उन्हींके आजूबाजूकी वस्तु रह गये।

धवलाकी रचनाके पश्चात् उसके सबसे बड़े पारगामी विद्वान् नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन दो ही विभागोंको ध्यानमें रखकर जीवकाण्ड और कर्मकाण्डकी रचना की, ऐसा प्रतीत

होता है। तथा उसके छहों खंडोंका ख्याल करके उन्होंने गर्वके साथ कहा है कि 'जिस प्रकार एक चक्रवर्ती अपने चक्रके द्वारा छह खंड पृथिवीको निर्विघ्नरूपसे अपने वशमें कर लेता है, उसी प्रकार अपने मतिरूपी चक्रद्वारा मैंने छह खंड सिद्धान्तका सम्यक् प्रकारसे साधन कर लिया'—

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण ।

तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥ ३९७ ॥ गो. क.

इससे आचार्य नेमिचंद्रको सिद्धान्तचक्रवर्तीका पद मिल गया और तभीसे उक्त पूरे सिद्धान्तके ज्ञाताको इस पदवीसे विभूषित करनेकी प्रथा चल पडी। जो इसके केवल प्रथम तीन खंडोंमें पारंगत होते थे, उन्हें ही जान पडता है, त्रैविद्यदेवका पद दिया जाता था। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें अनेक मुनियोंके नाम इन पदवियोंसे अलंकृत पाये जाते हैं। इन उपाधियोंने वीरसेनसे पूर्वकी सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य और महावाचककी पदवियोंका सर्वथा स्थान ले लिया। किंतु थोडे ही कालमें गोम्मटसारने इन सिद्धान्तोंका भी स्थान ले लिया और उनका पठन-पाठन सर्वथा रुक गया। आज कई शताब्दियोंके पश्चात् इनके सुप्रचारका पुनः सुअवसर मिल रहा है।

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार षट्खंडागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सीधा सम्बंध महावीरस्वामीकी द्वादशांग वाणीसे माना जाता है। शेष सब श्रुतज्ञान इससे पूर्व ही क्रमशः लुप्त व छिन्न भिन्न हो गया। द्वादशांग श्रुतका प्रस्तुत षट्खंडागमका ग्रंथमें विस्तारसे परिचय कराया गया है (पृ. ९१ से)। इनमेंसे बारहवें अंगको द्वादशांगसे छोडकर शेष सब ही नामोंके अंग-ग्रंथ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जब भी पाये जाते सम्बंध हैं। इन ग्रंथोंकी परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारादि दिगम्बर मान्यताके कहांतक अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगेके किसी खंडमें किया जायगा, यहां केवल यह बात ज्ञान देने योग्य है कि जो ग्यारह अंग श्वेताम्बर साहित्यमें हैं वे दिगम्बर साहित्यमें नहीं हैं और जिस बारहवें अंगका श्वेताम्बर साहित्यमें सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रन्थोंका उद्गमस्थान है।

बारहवें दृष्टिवादके अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच प्रभेद हैं। इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेदोंमेंके द्वितीय आग्रायणीय पूर्वसे ही जीवट्टाणका बहुभाग और शेष पांच खंड संपूर्ण निकले हैं जिनका क्रमभेद नीचेके वंशवृक्षोंसे स्पष्ट हो जायगा।

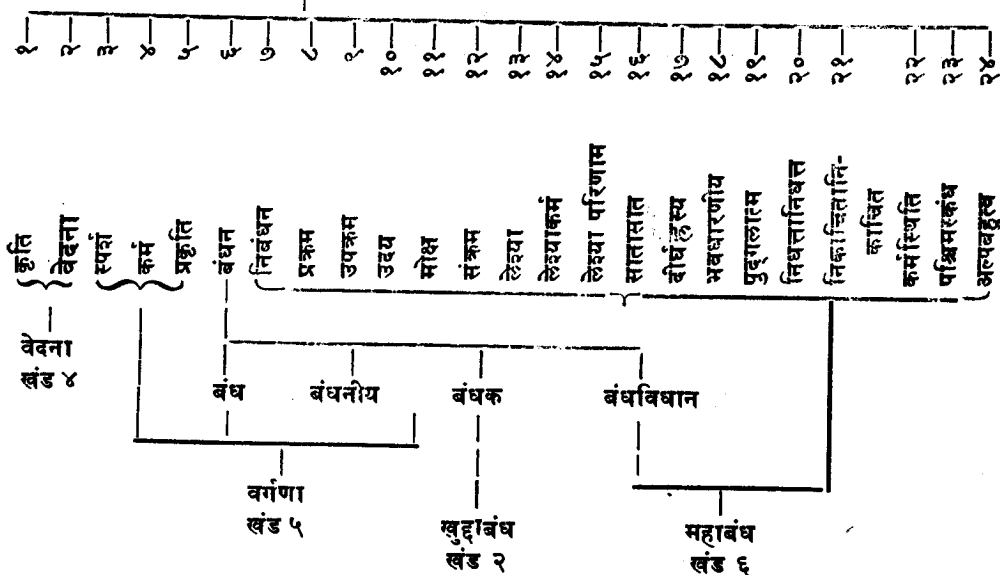
१. बारहवें अंग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका द्वितीय भेद

आप्रायणीय पूर्व.

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
पूर्वान्त	अपरान्त	द्रुव	अद्रुव	चयनलब्धि	अर्थापस	प्रणिधिकल्प	अर्थ	भौस	व्रतादिक	सर्वार्थ	कल्पनियर्ण	अतीत सिद्ध-बद्ध	अनागत "

२० पाहुड

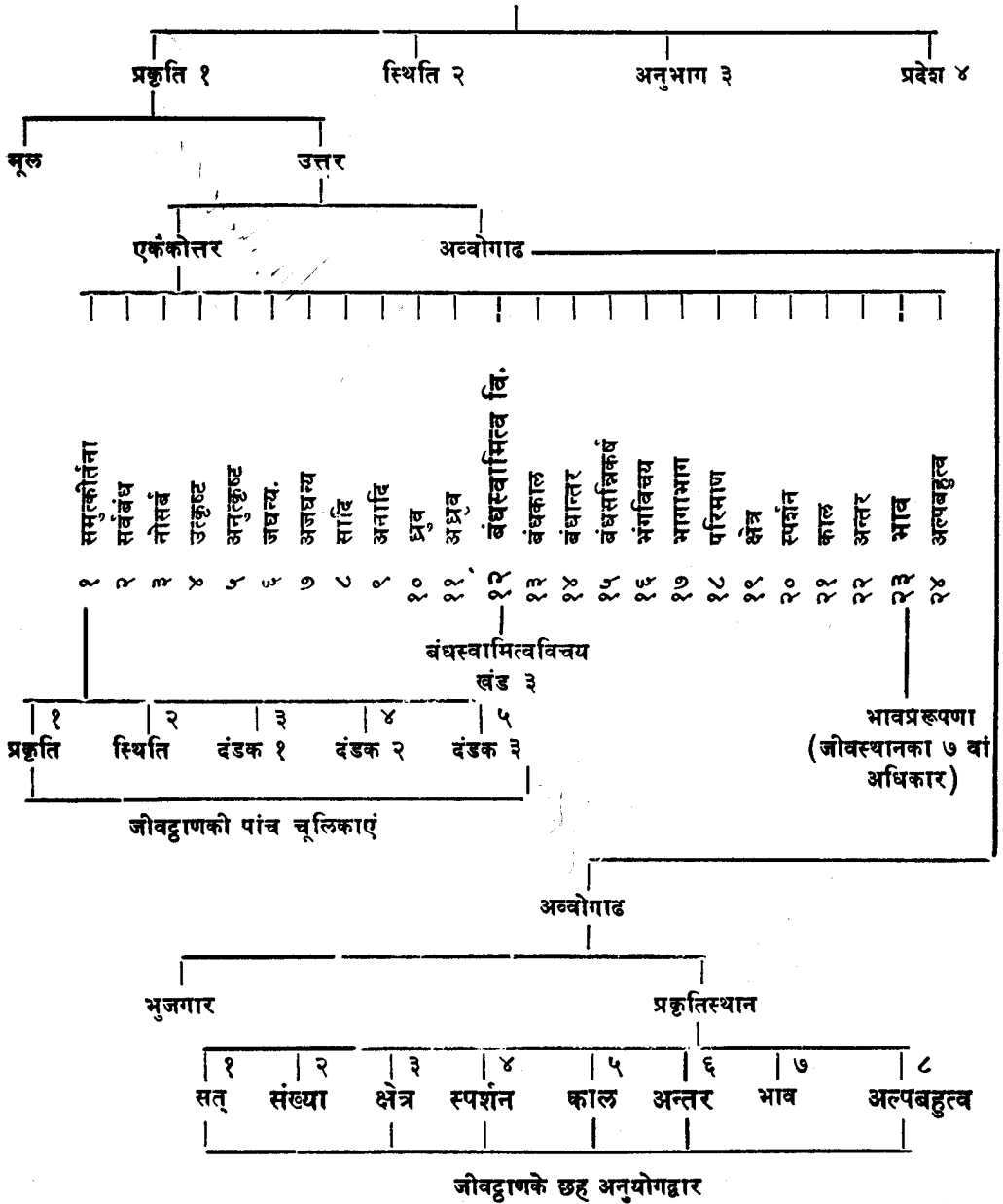
उनमें चतुर्थपाहुड कर्मप्रकृति.



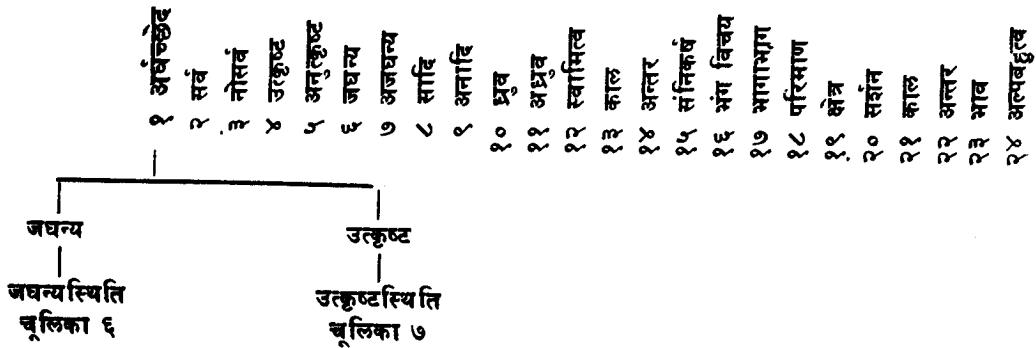
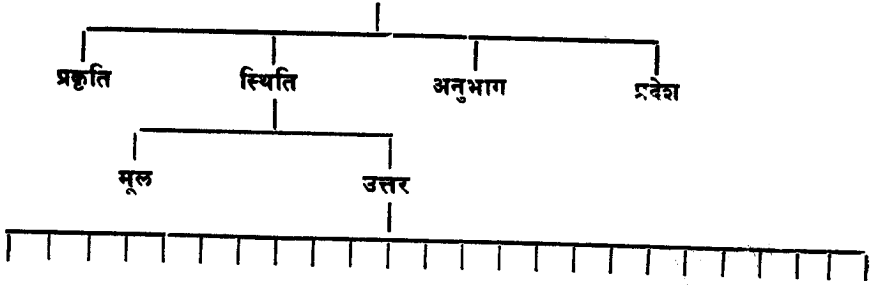
इस वंशवृक्षसे स्पष्ट है कि आप्रायणीय पूर्वके चयनलब्धि अधिकारके चतुर्थ भेद कर्म प्रकृति पाहुड के चौबीस अनुयोगद्वारोंसे ही चार खंड निष्पन्न हुए हैं। इन्हींके बंधन अनुयोगद्वार के एकभेद बंधविधानसे जीवट्टाण का बहुभाग और तीसरा खंड बंधस्वामित्वविचय किस प्रकार निकले यह आगेके वंश वृक्षोंसे स्पष्ट हो जायगा।

बंधकके ११ अनुयोगद्वारोंमें पांचवा द्रव्यप्रमाणानुगम है। वही जीवद्वानकी संख्या प्ररूपणाका उद्गमस्थान है।

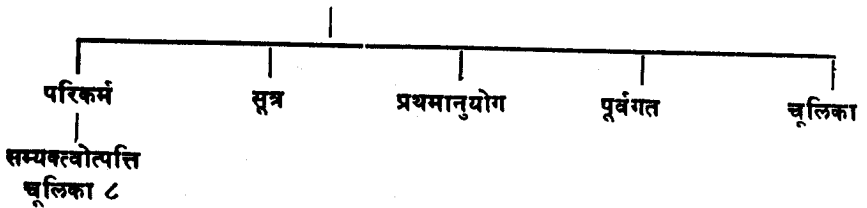
२ बंधविधान



३ बंधविधान



४ दृष्टिवाद (१२ वां अंग)



५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (पांचवां अंग)

गति आगति
चूलिका ९

इन वंश-वृक्षोंसे षट्खंडागमका द्वादशांगश्रुतसे सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और साथ ही साथ उस द्वादशांग वाणीके साहित्यके विस्तारका भी कुछ अनुमान किया जा सकता है।

११. सत्प्ररूपणाका विषय

प्रस्तुत ग्रंथमें ही जीवट्टाणकी उत्थानिकामें कहा गया है कि धरसेन गुरुसे सिद्धान्त सीखकर पुष्पदन्ताचार्य वनवास देशको गये और वहां उन्होंने 'विंशति' सूत्रोंकी रचना करके और उन्हें जिनपालितको पढाकर भूतबलि आचार्य, जो द्रमिल देशको चले गये थे, के पास भेजा। भूतबलिनने उन सूत्रोंको देखा और तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके शेष समस्त षट्खंडागमकी सूत्र-रचना की। इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुल सूत्र पुष्पदन्ताचार्यके बनाये हुए हैं। किंतु उन सूत्रोंकी संख्या विंशति अर्थात् बीस नहीं परन्तु एक सौ सतत्तर है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि पुष्पदन्तके बनाये हुए बीस सूत्र कहनेसे ध्वलाकारका तात्पर्य क्या है? ध्वलाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनन्तर जो ओघालाप प्रकरण लिखा है वह बीस प्ररूपणाओंको ध्यानमें रखकर ही लिखा गया है। और इस सिद्धान्तका जो सार नेमिचंद्र सि. च. ने गोम्मटसार जीवकाण्डमें संगृहीत किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है। वे बीस प्ररूपणाएं गोम्मटसारके शब्दोंमें इस प्रकार हैं—

गुणजीवा^१ पज्जती^२ पाणा^३ सण्णा^४ य मग्गणाओ^५ य ।

उवओगो^६ वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया ॥ २ ॥

अर्थात् गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएं और उपयोग ये बीस प्ररूपणाएं हैं।

अतएव विंशति सूत्रसे इन्हीं बीस प्ररूपणाओंका तात्पर्य ज्ञात होता है। इन बीसों प्ररूपणाओंका विषय यहां चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंके भीतर आजाता है।

राग, द्वेष व मिथ्यात्व भावोंको मोह कहते हैं और मन, वचन व कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंके चंचल होनेको योग कहते हैं। इन्हीं मोह और योगके निमित्तसे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्मगुणोंकी क्रमविकासरूप अवस्थाओंका गुणस्थान कहते हैं।

ऐसे गुणस्थान चौदह हैं— १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरतसम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्प-राय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली।

१. मिथ्यात्व अवस्थामें जीव अज्ञानके वशीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनीय कर्मका उदय है। सासादन और मिश्र मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टि के बीचकी अवस्थाएं हैं। चौथे गुणस्थानमें सम्यक्त्व हो जाता है किन्तु चारित्र नहीं सुधरता। देशविरतका चारित्र्य थोडा सुधरता है, प्रमत्तविरतका चारित्र पूर्ण तो होता है, किंतु परिणामोंकी अपेक्षा अप्रमत्त-विरतसे चारित्रकी क्रमसे शुद्धि व वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका उपशम हो जाता है और बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीयके क्षयसे उत्पन्न होता है। तेरहवें गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता है किन्तु योगोंका सद्भाव भी है। अन्तिम गुणस्थानमें दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता तथा योगोंका अभाव हो जानेसे मोक्ष हो जाता है।

मार्गणा शब्दका अर्थ खोज करना है। अतएव जिन जिन धर्मविशेषोंसे जीवोंकी खोज या अन्वेषण किया जाय उन धर्मविशेषोंको **मार्गणा** कहते हैं। ऐसी मार्गणाएं चौदह हैं—गति, इन्द्रिय काय, योग, वेदकषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार।

१. गति चार प्रकारकी हैं— नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव.

२. इन्द्रियां द्रव्य और भावरूप होती हैं और वे पांच प्रकारकी हैं— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र.

३. एकेन्द्रियसे पांच इन्द्रियों तककी शरीररचनाको **काय** कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्थावर और शेष त्रस कहलाते हैं।

४. आत्मप्रदेशोंकी चंचलताका नाम **योग** है इसीसे कर्मबंध होता है। योग तीन निमित्तोंसे होता है— मन, वचन और काय।

५. पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप भाव व तद्रूप अवयवविशेषको **वेद** कहते हैं।

६. जो आत्माके निर्मलभाव व चारित्रको कषै अर्थात् घात पहुंचावे वह **कषाय** है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं।

७. मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवल, तथा कुमति, कुश्रुति और कुअवधि रूपसे **ज्ञान** आठ प्रकारका होता है।

८. मन व इन्द्रियोंकी वृत्तिके निरोधका नाम **संयम** है और यह संयम हिंसादिक पापोंकी निवृत्तिसे प्रकट होता है। सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम, ये संयमके सात भेद हैं।

९. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये दर्शनके चार भेद हैं।

१०. कषायसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति व शरीरके वर्णोंका नाम **लेश्या** है। इसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

११. जिस शक्तिके निमित्तसे आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण प्रगट होते हैं उसे **भव्यत्व** कहते हैं। तदनुसार जीव भव्य व अभव्य होते हैं।

१२. तत्त्वार्थके श्रद्धानका नाम **सम्यक्त्व** है, और दर्शनमोहके उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन व मिथ्यात्वरूप भावोंके अनुसार सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हो जाते हैं।

१३. मनके द्वारा शिक्षादिके ग्रहण करनेको संज्ञा कहते हैं और ऐसी संज्ञा जिसमें हो वह **संज्ञी** कहलाता है। तदनुसार जीव संज्ञी व असंज्ञी होते हैं।

१४. औदारिक आदि शरीर और पर्याप्तिके ग्रहण करनेको **आहार** कहते हैं। तदनुसार जीव आहारक और अनाहारक होते हैं।

इन चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओंका प्ररूपण करनेवाले सत्प्ररूपणाके अन्तर्गत १७७ सूत्र हैं जिनका विषयक्रम इस प्रकार है। प्रथम सूत्रमें पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है। आगेके तीन सूत्रोंमें मार्गणाओंका प्रयोजन बतलाया गया है और उनका गति आदि नामनिर्देश किया गया है। ५, ६ और ७ वे सूत्रमें मार्गणाओंके प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोगद्वारोंके जाननेकी आवश्यकता बताई है और उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (संख्या) आदि नामनिर्देश किये हैं। ८ वें सूत्रसे इन अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम सत् प्ररूपणाका विवरण प्रारम्भ होता है जिसके आदिमेंही ओष और आदेश अर्थात् सामान्य और विशेष रूपसे विषयका प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंका निरूपण किया है जो ९ वें सूत्रसे २३ वें सूत्रतक चला है। २४ वें सूत्रसे विशेष अर्थात् गति आदि मार्गणाओंका विवरण प्रारम्भ हुआ है जो अन्त तक अर्थात् १७७ वें सूत्रतक चलता रहा है। गति मार्गणा ३२ वें सूत्रतक है। यहांपर नरकादि चारों गतियोंके गुणस्थान बतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकेन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रियतक शुद्ध तिर्यंच होते हैं, संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे संयतासंयत गुणस्थानतक मिश्र तिर्यंच होते हैं, और इसी प्रकार मनुष्य भी। देव और नारकी असंयत गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा दूसरी तीन गतियोंके जीवोंके साथ समान होते हैं। प्रमत्तसंयतसे आगे शुद्ध मनुष्य होते हैं। ३३ वें सूत्रसे ३८ वें तक इन्द्रिय मार्गणाका कथन है और उससे आगे ४६ वें सूत्र तक कायका और फिर १०० वें सूत्र तक योगका कथन है। इस मार्गणामें योगके साथ पर्याप्ति अपर्याप्तियोंका भी प्ररूपण किया गया है। तत्पश्चात् ११० वें सूत्रतक वेद, ११४ तक कषाय, १२२ तक ज्ञान, १३० तक संयम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लेश्या, १४३ तक भव्य, १७१ तक सम्यक्त्व, १७४ तक संज्ञी और फिर १७७ तक आहार मार्गणाका विवरण है।

प्रतियोंमें सूत्रोंका क्रमांक दो कम पाया जाता है, क्योंकि, वहां प्रथम मंगलाचरण व तीसरे सूत्र 'तं जहा' की पृथक गणना नहीं की। किन्तु टीकाकारने स्पष्टतः उनका सूत्ररूपसे व्याख्यान किया है, अतएव हमने उन्हें सूत्र गिना है।

टीकाकारने प्रथम मंगलाचरण सूत्रके व्याख्यानमें इस ग्रंथका मंगल, निमित्त, हेतु परिणाम, नाम और कर्ताका विस्तारसे विवेचन करके दूसरे सूत्रके व्याख्यानमें द्वादशांगका पूरा परिचय कराया है और उसमें द्वादशांग श्रुतसे जीवद्वारणके भिन्न भिन्न अधिकारोंकी उत्पत्ति बतलाई है। चौथे सूत्रके व्याख्यानमें गति आदि चौदह मार्गणाओंके नामोंकी निरुक्ति और सार्थकता बतलाते हुए उनका सामान्य परिचय करा दिया गया है। उसके पश्चात् विषयका खूब विस्तार सहित न्यायशैलीसे विवेचन किया है। टीकाकारकी शैली सर्वत्र प्रश्न उठाकर उनका समाधान करनेकी रही है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथमें कोई छह सौ शंकाएं उठाई गई हैं और उनके समाधान किये गये हैं। उदाहरणों, दृष्टान्तों, युक्तियों और तर्कों द्वारा टीकाकारने विषयको खूब ही छाना है और स्पष्ट किया है, किन्तु ये सब युक्ति और तर्क, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, आगमकी मर्यादाको लिए हुए हैं, और आगम ही यहां सर्वोपरि प्रमाण है। टीकाकारद्वारा व्याख्यात विषयकी गंभीरता, सूक्ष्मता और तुलनात्मक विवेचन हम अगले

खंडमें करेंगे जिसमें सत्प्ररूपणाका आलाप प्रकरण भी पूरा हो जावेगा । तबतक पाठक स्वयं सूत्रकार और टीकाकारके शब्दोंका स्वाध्याय और मनन करनेकी कृपा करें ।

१४

१२. ग्रंथकी भाषा

प्रस्तुत ग्रंथ रचनाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें बटा हुआ है । प्रथम पुष्पदन्ताचार्यके सूत्र, दूसरे वीरसेनाचार्यकी टीका और तीसरे टीकामें स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन गद्य और पद्य । सूत्रोंकी भाषा आदिसे अन्त तक प्राकृत है और इन सूत्रोंकी संख्या है १७७ । वीरसेनाचार्यकी टीकाका लगभग तृतीय भाग प्राकृतमें और शेष भाग संस्कृतमें है । उद्धृत पद्योंकी संख्या २२१ है जिनमें १७ संस्कृतमें और शेष सब प्राकृतमें हैं । इससे अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनाचार्यके सन्मुख जो जैन साहित्य उपस्थित था उसका अधिकांश भाग प्राकृतमें ही था । किन्तु उनके समयके लगभग जैन साहित्यमें संस्कृतका प्राधान्य हो गया और उनकी टीकामें जो संस्कृत-प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्रायः उन दोनों भाषाओंकी तात्कालिक आपेक्षिक प्रबलताका द्योतक है । इस समयसे प्राकृतका बल घट चला और संस्कृतका बढ़ा, यहांतक कि आजकल जैनियोंमें प्राकृत भाषाके पठन पाठनकी बहुत ही मन्दता है । दिगम्बर समाजके विद्यालयोंमें तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत पढ़ानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं । ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत ग्रंथका परिचय कराते समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है । प्राकृत साहित्यमें प्राकृत भाषा मुख्यतः पांच प्रकारकी पाई जाती है— मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश ।

महावीरस्वामीके समयमें अर्थात् आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रांतमें प्रचलित थी वह मागधी कहलाती है । इस भाषाका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता । किन्तु प्राकृत व्याकरणोंमें इस भाषाका स्वरूप बतलाया गया है और कुछ शिलालेखों और नाटकोंमें इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषाकी तीन विशेषताएं स्पष्ट समझमें आ जाती हैं—

१. र के स्थानमें ल, जैसे राजा—लाजा, नगर—णगल,
२. श, ष और सके स्थानपर श । जैसे, शम—शम, दासी—दाशी, मनुष—मनुश ।
३. संज्ञाओंके कर्ताकारक एकवचन पुल्लिङ्ग रूपमें ए । जैसे देवः—देवे, नरः—णले, उदाहरण—

अले कुंभीलआ ! कहेहि, कर्हि तुए एशे मणिबंधणुक्किणणामहेए लाअकीलए अंगुली-अए शमाशादिए । (शकुंतला)

‘ अरे कुंभीलक ! कह, कहां तूने इस मणिबंध और उत्कीर्ण नाम राजकीय अंगुलीको पाया ’ ।

दूसरे प्रकारकी प्राकृत अर्धमागधी इस कारण कहलाई कि उसमें मागधीके आधे लक्षण पाये जाते हैं, क्योंकि, संभवतः वह आधे मगध देशमें प्रचलित थी। इसी भाषामें प्राचीन जैन सूत्रोंकी रचना हुई थी और इसका रूप अब श्वेताम्बरीय सूत्र-ग्रंथोंमें पाया अर्धमागधी जाता है, इसीलिये डॉ. याकोबीने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें ष और स के स्थानपर श न होकर सर्वत्र स ही पाया जाता है, र के स्थानपर ल तथा कर्ता कारकमें 'ए' विकल्पसे होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अधिकरण कारकका रूप 'ए' व 'म्मि' के अतिरिक्त 'अंसि' लगाकर भी बनाया जाता है।

उदाहरण:-

कोहाइ माणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंतं ।

तम्हा हि वीरे विरओ वहाओ छिदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ (आचारांग)

क्रोधादि व मान का हनन करके महावीरने लोभके महान् पाशको तोड़ डाला। इस प्रकार वीर वधसे विरत होकर भूतगामी शोकका छिन्दन करें।

सुसाणंसि वा सुन्नागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलम्मि वा । (आचारांग)

श्मशानमें या शून्यागारमें या गिरिगुफामें व वृक्षके मूलमें (साधु निवास करे)

ये मागधीकी प्रवृत्तियां अर्धमागधीमें भी धीरे धीरे कम होती गई हैं।

प्राचीन शूरसेन अर्थात् मथुराके आसपासके प्रदेशकी भाषाका नाम शौरसेनी है। वैयाकरणोंने इस भाषाका जैसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकोंमें कहीं कहीं मिलता है, पर इसका स्वतंत्र साहित्य दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें ही पाया जाता है।

शौरसेनी प्रवचनसारादि कुंदकुंदाचार्यके ग्रंथ इसी प्राकृतमें हैं। कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर जैनियोंकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा है। किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको लिये हुए होनेसे उसका वैयाकरणोंकी शौरसेनीसे पृथक् निर्देश करनेके हेतु उसे 'जैन शौरसेनी' कहनेका रिवाज हो गया है। जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रस्तुत ग्रंथकी प्राकृत मुख्यतः यही है।

शौरसेनीकी विशेषताएं ये हैं कि उसमें र का ल क्वचित् ही होता है, तीनों सकारों के स्थानपर स ही होता है, और कर्ताकारक पुल्लिग एकवचनमें ओ होता है। इसकी अन्य विशेषताएं ये हैं कि शब्दोंके मध्यमें त के स्थानपर द, थ के स्थानपर ध, भ के स्थानपर कहीं कहीं ह और पूर्वकालिक कृदन्तके रूप संस्कृत प्रत्यय, त्वा के स्थानपर त्ता, इअ या इण होता है। जैसे-

सुतः- सुदो; भवति-भोदि या होई; कथम्-कधं; कृत्वा-करित्ता, करिअ, करिदूण;

आदि

उदाहरण-

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्महिं राग-रहिदप्पा ।

एसो बंधसमासो जीवो जाण णिच्छयदो ॥

प्रवच. २, ८७.

णो सदहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगद-घादीणं ।

सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥

प्रवच. १, ६२.

अर्थात् आत्मा रागयुक्त होकर कर्म बांधता है तथा रागरहित होकर कर्मसे मुक्त होता है । यह जीवोंका बंधसमास है, ऐसा निश्चय जानो ।

घातिया कर्मसे रहित (केवली भगवान्) का सुख ही सुखोंमें श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं ।

✳ महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन महाराष्ट्रकी भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबंध, गडडवह आदि काव्योंमें पाया जाता है । संस्कृत नाटकोंमें जहां प्राकृतका प्रयोग होता है वहां पात्र बातचीत तो शौरसेनीमें करते हैं और गाते महाराष्ट्रीमें हैं, महाराष्ट्री ऐसा विद्वानोंका मत है । इसका उपयोग जैनियोंने भी खूब किया है । पउमचरिअं, समराइच्चकहा, सुरसुंदरीचरिअं, पासणाहचरिअं आदि काव्य और श्वेतांबर आगम सूत्रोंके भाष्य, चूर्णी, टीका, आदिकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है । पर यहां भी जैनियोंने इधर उधरसे अर्धमागधीकी प्रवृत्तियां लाकर उसपर अपनी छाप लगा दी है, और इस कारण इन ग्रंथोंकी भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है । जैन महाराष्ट्रीमें सप्तशती व सेतुबंध आदिकी भाषासे विलक्षण आदि व, द्वित्वमें न और लुप्त वर्णके स्थानपर य श्रुतिका उपयोग हुआ है, जैसा जैन शौरसेनीमें भी होता है । महाराष्ट्रीके विशेष लक्षण जो उसे शौरसेनीसे पृथक् करते हैं, ये हैं कि यहां मध्यवर्ती त का लोप होकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किंतु वह व में परिवर्तित नहीं होता । उसी प्रकार थ यहां ध में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रियाका पूर्वकालिक रूप ऊण लगाकर बनाया जाता है । जैन महाराष्ट्रीमें इन विशेषताओंके अतिरिक्त कहीं कहीं र का ल व प्रथमान्त ए आजाता है । जैसे-

जानाति-जाणइ; कथम्-कहं; भूत्वा-होऊण; आदि ।

उदाहरणार्थ—

सव्वायरेण चलणे गुरुस्स नमिऊण दसरही राया ।

पविसरइ नियम-नयारि साएयं जण-धणाइणं ॥

(पउम. च. ३१, ३८, पृ. १३२.)

अर्थात् सब प्रकारसे गुरुके चरणोंको नमस्कार करके दशरथ राजा जन-धन-परिपूर्ण अपनी नगरी साकेतमें प्रवेश करते हैं ।

क्रमविकासकी दृष्टिसे अपभ्रंश भाषा प्राकृतका सबसे अन्तिम रूप है; उससे आगे फिर प्राकृत वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंका रूप धारण कर लेती है। इस भाषापर भी जैनियों का प्रायः एकछत्र अधिकार रहा है। जितना साहित्य इस अपभ्रंश भाषाका अभीतक प्रकाशमें आया है उसमेंका कमसे कम तीन चौथाई हिस्सा दिगम्बर जैन साहित्यका है। कुछ विद्वानोंका ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएँ थी उन सबका विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना। जैसे, मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। बौद्ध चर्यापदों व विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है। किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शौरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैयाकरणोंने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय संभवतः वह नागरिक लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी। पुष्पदन्तकृत महापुराण, गायकुमारचरित, जसहरचरित, तथा अन्य कवियोंके करकण्डचरित, भविसयत्तकहा, सणकुमारचरित, सावयधम्म-दोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषाके काव्य हैं। इस भाषाको अपभ्रंश नाम वैयाकरणोंने दिया है; क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनको विकास न समझकर विकार समझते थे। पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूब फली फूली और उसीकी पुत्रियां आज समस्त उत्तर भारतका काजव्यवहार सम्हाले हुए हैं।

इस भाषाकी संज्ञा व क्रियाकी रूपरचना अन्य प्राकृतोंसे बहुत कुछ भिन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्-पुत्तु; पुत्रेण-पुत्ते; पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य-पुत्तहु; पुत्रे-पुत्ते, पुत्ति, पुत्तिहि, आदि।

क्रियामें, करोमि-करउं; कुर्वन्ति-करहि; कुरुथ-करहु, आदि।

इसमें नये नये छन्दोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किन्तु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए। अन्त-यमक अर्थात् तुकबन्दी इन शब्दोंकी एक बड़ी विशेषता है। दोहा, चौपाई आदि छन्द यहांसे ही हिन्दीमें आये।

अपभ्रंशका उदाहरण—

सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु ।

धम्मु वि रे जिय तं करहि जं अरहंतइं वुत्तु ॥

सावयधम्मदोहा ॥ ४ ॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्वका सार है और वह सुख धर्मके आधीन है। रे जीव ! वह धर्म कर जो अरहंतका कहा हुआ है।

इन विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त स्वर और व्यंजनसम्बंधी कुछ विलक्षणताएं सभी प्राकृतोंमें समानरूपसे पाई जाती हैं। जैसे, स्वरोमें ऐ और औ, ऋ और लृ का अभाव और उनके स्थान पर क्रमशः अइ, अउ, अथवा ए, ओ, तथा अ या इ का आदेश; मध्यवर्ती

व्यंजनोंमें अनेक प्रकारके परिवर्तन व उनका लोप, संयुक्त व्यंजनोंका असंयुक्त या द्वित्वरूप परिवर्तन, पंचमाक्षर ङ, ञ् आदि सबके स्थानपर हलन्त अवस्थामें अनुस्वार व स्वरसहित अवस्थामें ण में परिवर्तन । ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रामें पाये जाते हैं । अपभ्रंश भाषामें ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापर पहुँच गये और वहांसे फिर भाषाके रूपमें परिवर्तन हो चला ।

इन सब प्राकृतोंमें प्रस्तुत ग्रंथकी भाषाका ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णतः निर्णय करनेका अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त धवल सिद्धान्त अमरावतीकी प्रतिके १४६५ पत्रोंमें समाप्त हुआ है । प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम ६५ पत्रोंमात्रका संस्करण है, अतएव यह उसका बाईसवां अंश है । तथा धवला और जयधवलाको मिलाकर वीरसेनकी रचनाका यह केवल चालीसवां अंश बैठेगा । सो भी उपलभ्य एकमात्र प्राचीन प्रतिकी अभी अभी की हुई पांचवीं छठवीं पीढीकी प्रतियोंपरसे तैयार किया गया है और मूल प्रतिके मिलानका सुअवसर भी नहीं मिल सका । ऐसी अवस्थामें इस ग्रंथकी प्राकृत भाषा व व्याकरणके विषयमें कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतोंका भेद बहुत कुछ वर्णविपर्ययके ऊपर अवलम्बित है । तथापि इस ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनादिकी सुविधाके लिये व इसकी भाषाके महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करनेके हेतु उसकी भाषाका कुछ स्वरूप बतलाना यहां अनुचित न होगा ।

१. प्रस्तुत ग्रंथमें त बहुधा द में परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, सुत्रोंमें—गदि-गति; चदु-चतुः; वीदराग-वीतराग; मदि-मति, आदि । गाथाओंमें—पव्वद-पव्वत; अदीद-अतीत; तदिय-तृतीय, आदि । टीकामें—अवदारो-अवतारः; एदे-एते; पदिद-पतित; चितिदं-चितितम्; संठिदं-संस्थितम्; गोदम-गौतम, आदि ।

किन्तु अनेक स्थानोंपर त का लोप भी पाया जाता है, यथा—सूत्रोंमें—गइ-गति; चउ-चतुः; वीयराय-वीतराग; जोइसिय-ज्योतिष्क; आदि । गाथाओंमें—हेऊ-हेतुः; पयई-प्रकृति; आदि । टीकामें—सम्मइ-सम्मति; चउव्विह-चतुर्विध; सव्वघाइ-सर्वघाति; आदि ।

क्रियाके रूपोंमें भी अधिकतः ति या ते के स्थानपर बि या बे पाये जाते हैं । जैसे, (सूत्रोंमें अत्थि के सिवाय दूसरी कोई क्रिया नहीं है) गाथाओंमें—णयदि-नयति; छिज्जदे-छिज्जते; जाणदि-जानाति; लिपदि-लिम्पति; रोचेदि-रोचते; सहहदि-श्रद्धाति; कुणदि-करोति; आदि । टीकामें—कीरदे, कीरदि-क्रियते; खिवदि-क्षिपति; उच्चदि-उच्यते; जाणदि-जानाति; परूवेदि-परूपयति; वददि-वदति; विरुज्जदे-विरुध्यते; आदि ।

किन्तु त का लोप होकर संयोगी स्वरमात्र शेष रहनेके भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा—गाथाओंमें—होइ, हवइ-भवति; कहेइ-कथयति; ववखाणइ-व्याख्याति; भमइ-भ्रमति; भण्णइ-भण्यते, आदि । टीकामें—कुणइ-करोति; वण्णेइ-वर्णयति; आदि ।

२. क्रियाओंके पूर्वकालिक रूपोंके उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं—इय-छडिय-त्यवत्वा । तु-कटट्-कृत्वा । अ-अहिगम्म-अधिगम्य । दूण-अस्सिदूण-आश्रित्य । ऊण-अस्सिऊण,

बटूण, मोतूण, दाऊण, चित्तऊण, आदि ।

३. मध्यवर्ती क के स्थानमें ग आदेशके उदाहरण मिलते हैं । यथा—सूत्रोंमें—वेदग-वेदक । गाथाओंमें—एगदेस-एकदेश, टीकामें—एगत-एकत्व; बंधग-बंधक; अप्पाबहुग-अल्पबहुत्व; आगास-आकाश; जाणुग-ज्ञायक; आदि ।

किन्तु बहुधा मध्यवर्ती क का लोप पाया जाता है । यथा—सूत्रोंमें—सांपराइय-साम्परायिक; एइदिय-एकेन्द्रिय; सामाइय-सामायिक; काइय-कायिक । गाथाओंमें—तित्थयर-तीर्थकर; वायरणी-व्याकरणी; पयई-प्रकृति; पंचएण-पंचकेन; समाइण-समाकीर्ण; अहियार-अधिकार । टीकामें—एय-एक; परियम्म-परिकर्म; किदियम्म-कृतिकर्म; वायरण-व्याकरण; भडारएण-भट्टारकेण, आदि ।

४. मध्यवर्ती क, ग, ख, ज, त, द और प के लोपके तो उदाहरण सर्वत्र पाये ही जाते हैं, किन्तु इनमेंसे कुछके लोप न होनेके भी उदाहरण मिलते हैं । यथा—ग—सजोग-सयोग; संजोग-संयोग; चाग-त्याग; जुग-युग; आदि । त—वितीद-व्यतीत । द—छदुमत्थ-छद्मस्थ बादर-बादर; जुगादि-युगादि; अणुवाद-अनुवाद; वेद, उदार, आदि ।

५. थ और ध के स्थानमें प्रायः ह पाया जाता है, किन्तु कहीं कहीं थ के स्थानमें घ और ध के स्थानमें घ ही पाया जाता है । यथा—पुध-पृथक्; कध-कथम्; ओधि-अवधि; (सू. १३१) सोधम्म-सौधर्म (सू. १६९); साधारण (सू. ४१); कदिविधो-कतिविधः; (गा. १८) आधार (टी. १९)

६. संज्ञाओंके पंचमी-एकवचनके रूपमें सूत्रोंमें व गाथाओंमें आ तथा टीकामें बहुतायतसे दो पाया जाता है । यथा—सूत्रोंमें—णियमा-नियमात् । गाथाओंमें—मोहा-मोहात् । तम्हा-तस्मात् । टीकामें—णाणादो, पढमादो, केवलादो, विदियादो, खेत्तदो, कालदो, आदि ।

संज्ञाओंके सप्तमी-एकवचनके रूपमें म्मि और म्हि दोनों पाये जाते हैं । यथा—सूत्रोंमें—एकम्मि (३६, ४३, १२९, १४८, १४९) आदि । एकम्मिह (६३, १२७) । गाथाओंमें—एक्कम्मि, लोयम्मि, पक्खम्मि, मदम्मि, आदि । टीकामें—वत्थुम्मि, चइदम्मि, जम्मि, आदि ।

दो गाथाओंमें कर्ताकारक एकवचनकी विभक्ति उ भी पाई जाती है । जैसे थावर (१३५) एक्कु (१४६) यह स्पष्टतः अपभ्रंश भाषाकी ओर प्रवृत्ति है और उस लक्षणका शक ७३८ से पूर्वके साहित्यमें पाया जाना महत्वपूर्ण है ।

७. जहां मध्यवर्ती व्यंजनका लोप हुआ है वहां यदि संयोगी शेष स्वर अ अथवा आ हो तो बहुधा य श्रुति पायी जाती है । जैसे—तित्थयर-तीर्थकर; पयत्थ-पदार्थ; वेयणा-वेदना; गय-गत; गज; विमग्गया-विमार्गंगा; आहारया-आहारका; आदि ।

अ के अतिरिक्त 'ओ' के साथ भी और क्वचित् ऊ व ए के साथ भी हस्तलिखित प्रतियोंमें य श्रुति पाई गई है । किन्तु हेमचन्द्रके नियमका ' तथा जैन शौरसेनीके अन्यत्र प्रयोगोंका '

विचार करके नियमके लिये इन स्वरोंके साथ य श्रुति नहीं रखनेका प्रस्तुत ग्रंथमें प्रयत्न किया गया है। तथापि इसके प्रयोगकी ओर आगे हमारी सूक्ष्मदृष्टि रहेगी। (देखो ऊपर पाठसंशोधनके नियम पृ. १३)

उ के पश्चात् लुप्तवर्णके स्थानमें बहुधा व श्रुति पाई जाती है। जैसे—वालुवा-वालुकाः; बहुर्व-बहुकं; विहुव-विधूत, आदि। किन्तु 'पञ्जव' में विना उ के सामीप्यके भी नियमसे व श्रुति पाई जाती है।

८. वर्ण विकारके कुछ विशेष उदाहरण इस प्रकार पाये जाते हैं—सूत्रोंमें—
अडाइज्ज-अर्धतृतीय (१६३), अणियोग-अनुयोग (५); आउ-अप (३९) इड्डि-ऋडि (५९) ओधि, ओहि-अवधि (११५, १३१); ओरालिय-ओदारिक (५६); छदुमत्थ-छद्यस्थ (१३२); तेउ-तेजस (३९); पञ्जव-पर्याय (११५); मोस-मूषा (४९); वेंतर-व्यन्तर (९६); णेरइय-नारक, नारकी (२५); गाथाओंमें— इक्खय-इक्खाकु (५०); उराल-उदार (१६०); इंगाल-अंगार (१५१); खेतण्ह-खेत्रज्ञ (५२); चाग-त्याग (९२); फह्य-स्पर्धक (१२१); सस्सेदिम-संस्वेदज (१३९)।

गाथाओंमें आए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं—कायोली-वीवध (८८); घुम्मंत-भ्रमत् (६३); चोक्खो-शुद्ध (२०७); णिमेण-आधार (७); भेज्ज-भीरु; (२०१); मेर-मात्रा, मर्यादा (९०)।

टीकाके कुछ देशी शब्द—अल्लियइ-उपसर्पति (२२०); चडविय-आरूढ (२२१); छड्डिय त्यक्त्वा (२११); णिसुडिय-नत (६८); बोलाविय-व्यतीत्य (६८)।

इन थोड़ेसे उदाहरणोंपरसे ही हम सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा के विषयमें कुछ निर्णय कर सकते हैं। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि, उसमें न तो अनिवार्य रूपसे, और न विकल्पसे ही र के स्थान पर ल, व स के स्थानपर श पाया जाता, और न कर्ताकारक एकवचन में कहीं ए मिलता।

त के स्थानपर द, क्रियाओंके एकवचन वर्तमान कालमें बि व बे, पूर्वकालिक क्रियाओंके रूपमें तु व दूण, अपादानकारककी विभक्ति दो तथा अधिकरणकारककी विभक्ति स्मिह, क के स्थानपर ग, तथा थ के स्थानपर ष आदेश, तथा द और ध का लोपाभाव, ये सब शौरसेनीके लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रियाके रूपोंमें इ, पूर्व कालिक क्रियाके रूपमें ऊण, ये महाराष्ट्रीके लक्षण हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण सूत्रों, गाथाओं व टीका सभीमें पाये जाते हैं। सूत्रोंमें जो वर्णविकारके विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधीकी ओर संकेत करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है, उसपर अर्धमागधी का प्रभाव है, तथा उसपर महाराष्ट्रीका भी संस्कार पड़ा है। ऐसी ही भाषाको पिशेल आदि पाश्चमिक विद्वानोंने जैन शौरसेनी नाम दिया है।

१ अवर्णों य श्रुतिः (८, १, १८०,) टीका—क्वचिद् भवति, पियइ ॥ १८० ॥

२ डॉ उपाध्ये; प्रवचनसारकी भूमिका, पृ. ११५

सूत्रोंमें अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है। सूत्रोंमें एक मात्र क्रिया 'अत्थि' आती है और वह एकवचन व बहुवचन दोनोंकी बोधक है। यह भी सूत्रोंके प्राचीन आर्ष प्रयोग का उदाहरण है।

गाथाएं प्राचीन साहित्यके भिन्न भिन्न ग्रंथोंकी भिन्न भिन्न कालकी रची हुई अनुमान की जा सकती हैं। अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रीपनकी मात्रामें भेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन। महाराष्ट्रीका प्रभाव साहित्यमें पीछे पीछे अधिकाधिक पड़ता गया है। उदाहरणके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा नं० २०३ लीजिये जो यहां इस प्रकार पाई जाती है—

रूसदि णिददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयदि परिभवदि परं पसंसदि अप्पयं बहुसो ॥

इसी गाथाने गोम्मटसार (जीवकांड ५१२) में यह रूप धारण कर लिया है—

रूसइ णिदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसए अप्पयं बहुसो ॥

यहांकी गाथाओंका गोम्मटसारमें इस प्रकारका महाराष्ट्री परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां इस ग्रंथमें महाराष्ट्रीपन है वहां गोम्मटसारमें शौरसेनीपन स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यहां 'खमइ बहुअं हि' है वहां गो. जी. ५१६ में 'खमदि बहुअं पि' पाया जाता है। गाथा २१० में यहां 'एय-णिगोद' है, किन्तु गोम्मटसार १९६ में उसी जगह 'एग-णिगोद' है। ऐसे स्थलोंपर गोम्मटसारमें प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंकी सावधानीसे परीक्षा न की जाय और यथेष्ट उदाहरण सन्मुख उपस्थित न हों तबतक इनकी भाषाके विषयमें निश्चयतः कुछ कहना अनुचित है।

टीका का प्राकृत गद्य प्रौढ, महावरेदार और विषयके अनुसार संस्कृतकी तर्कशैलीसे प्रभावित है। सन्धि और समासोंका भी यथास्थान बाहुल्य है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथोंको या स्फुट छोटी मोटी खंड रचनाओंको छोड़कर दिगम्बर साहित्यमें अभीतक यही एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है। अभी इस गद्यका बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होनेवाला है। अतः ज्यों ज्यों वह साहित्य सामने आता जायगा त्यों त्यों इस प्राकृतके स्वरूपपर अधिकाधिक प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जायगा।

इसी कारण ग्रंथकी संस्कृत भाषाके विषयमें भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि ग्रंथकी संस्कृत शैली अत्यन्त प्रौढ, सुपरिमाजित और न्यायशास्त्रके ग्रंथोंके अनुरूप है। हम अपने पाठ-संशोधन के नियमोंमें कह

आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथमें अरिहंतः शब्द अनेकबार आया है और उसकी निरुक्ति भी अरिहन्नात् अरिहंतः आदि की गई है। संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार हमें यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। अर्ह् धातुसे बना अर्हत् होता है और उसके एकवचन व बहुवचनके रूप क्रमशः अर्हन् और अर्हन्तः होते हैं। यदि अरि+हन् से कर्तावाचक रूप बनाया जाय तो अरिहन्तु होगा जिसके कर्ता एकवचन व बहुवचन रूप अरिहन्ता और अरिहन्तारः होना चाहिये। चूंकि यहां व्युत्पत्तिमें अरिहन्नात् कहा गया है अतः अर्हन् व अर्हन्तः शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रंथमें अरिहन्ता कर दिया है, किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि संस्कृतमें अरिहन्तः जैसा रूप रखना चाहिये या नहीं। यदि हम हन् धातुसे बना हुआ 'अरिहा' शब्द ग्रहण करें और पाणिनि के 'मघवा बहुलम्' सूत्रका इस शब्दपर भी अधिकार चलावें तो बहुवचनमें अरिहन्तः हो सकता है। संस्कृतभाषा की प्रगतिके अनुसार यह भी असंभव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द अर्हत् के प्राकृत रूप अरहंत, अरिहंत, अरुहंत परसे ही संस्कृतमें रूढ हो गया हो। विद्वानोंका मत है कि गोविन्द शब्द संस्कृतके गोपेन्द्र का प्राकृत रूप है'। किन्तु पीछे से संस्कृतमें भी वह रूढ हो गया और उसीकी व्युत्पत्ति संस्कृतमें दी जाने लगी। उस अवस्थामें अरिहन्तः शब्द अकारान्त जैन संस्कृतमें रूढ माना जा सकता है। वैयाकरणोंको इसका विचार करना चाहिये।

(१९)

उपसंहार.

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके वचनोंकी उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतमने द्वादशांग श्रुतके रूपमें ग्रंथ रचना की जिसका ज्ञान आचार्य परम्परासे क्रमशः कम होते हुए धरसेनाचार्यतक आया। उन्होंने बारहवें अंग दृष्टिवादके अन्तर्गत पूर्वोंके तथा पाचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्तिके कुछ अंशोंको पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंको पढ़ाया। और उन्होंने वीर निर्वाण के पश्चात् ७ वीं शताब्दिके लगभग सत्कर्मपाहुडकी छह हजार सूत्रोंमें रचना की। इसीकी प्रसिद्धि षट्खंडागम नामसे हुई। इसकी टीकाएं क्रमशः कुन्दकुन्द, शामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पबेबने बनाई, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाएं अब मिलती नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार बीरसेनाचार्य हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका धवलाकी रचना शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है।

षट्खंडागमका छठवां खंड महाबंध है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यने बहुत विस्तारसे की थी। अतएव पंचिकादिकको छोड़ उसपर विशेष टीकाएं नहीं रची गई। इसी महाबंधकी प्रसिद्धि महाधवलके नामसे है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरसेनाचार्यके समयके लगभग एक और आचार्य गुणधर हुए जिन्हें भी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने कषायप्राभूतकी रचना की। इसका आर्यमंशु और नागहस्तिने व्याख्यान किया और यतिवृषभ आचार्यने चूर्णिसूत्र रचे। इसपर भी बीरसेनाचार्यने टीका

लिखी । किन्तु वे उसे २० हजार प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हुए । तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्यने ४० हजार प्रमाण और लिखकर उसे शक ७५९ में पूरा किया । इस टीकाका नाम जयध्वला है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है ।

इन दोनों या तीनों महाग्रंथोंकी केवल एकमात्र प्रति ताड़पत्रपर शेष रही थी जो सैकड़ों वर्षोंसे मूडविद्वीके भंडारमें बन्द थी । गत २०।२५ वर्षोंमें उनमेंसे ध्वला व जयध्वलाकी प्रतिलिपियां किसी प्रकार बाहर निकल पाई हैं । महाबंध या महाधवल अब भी दुष्प्राप्य है । उनमेंसे ध्वलाके प्रथम अंशका अब प्रकाशन हो रहा है । इस अंशमें द्वादशांगवाणी व ग्रंथ रचनाके इतिहासके अतिरिक्त सत्प्ररूपणा अर्थात् जीवसमासों और मार्गणाओं का विशेष विवरण है । सूत्रोंकी भाषा पूर्णतः प्राकृत है । टीकामें जगह जगह उद्धृत पूर्वाचार्योंके पद्य २२१ हैं जिनमें केवल १७ संस्कृतमें और शेष प्राकृतमें हैं, टीकाका कोई तृतीयांश प्राकृतमें और शेष संस्कृतमें है । यह सब प्राकृत प्रायः वही शौरसेनी है जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्योंके ग्रंथ रचे पाये जाते हैं । प्राकृत और संस्कृत दोनोंकी शैली अत्यंत सुन्दर, परिमार्जित और प्रौढ है ।